कौतुककारी कूपकथा

- श्रीकृष्ण जुगनू

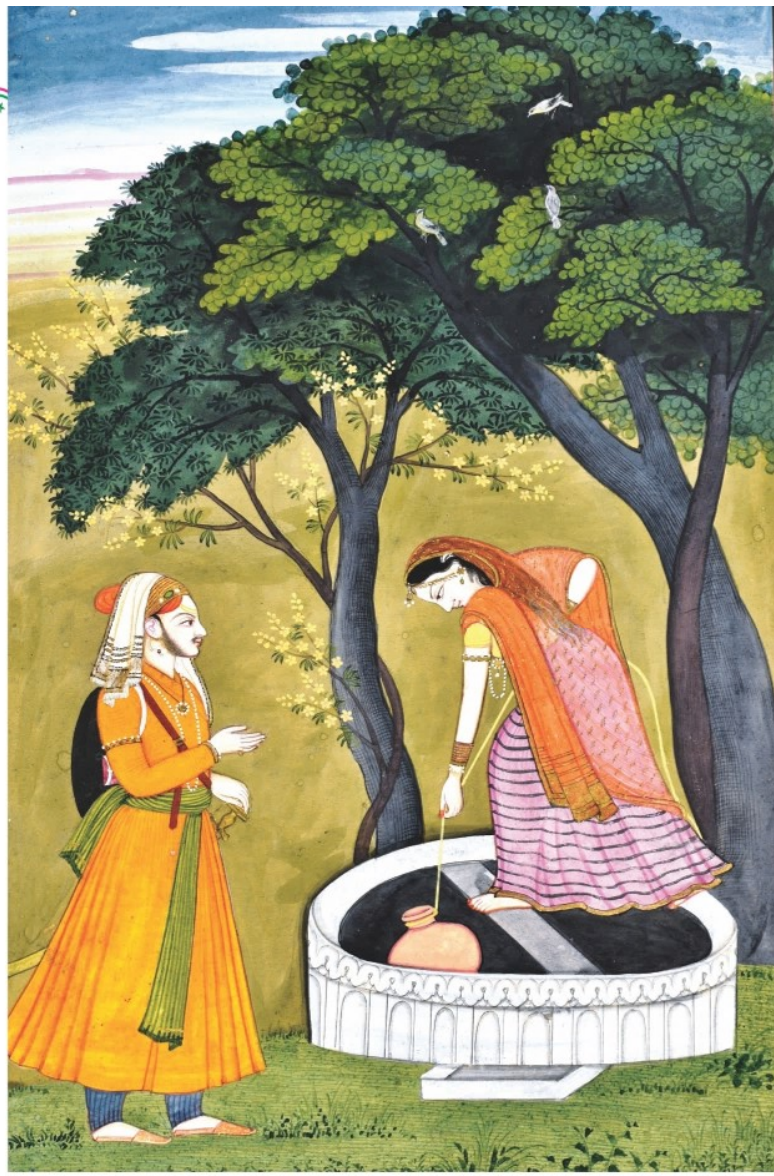

जलस्रोत के रूप में कूप को आरंभिक नीरस्थापत्य के रूप में जाना जाता है। यह भूमिगत गहराई लिए ऐसी रचना है, जो मिट्टी के झारे के रूप वाली विशाल रचना है जिसमें आंतरिक प्रवाहमान शिराओं से जलधाराएं आती हैं और अपने वेग से जल को जमा करती है। भूमि के आंतरिक स्वरूप के अध्ययन काल में मानव ने यह जान लिया था कि जो पानी बाहर दिखाई नहीं देता, वह भूमिगत होकर बहता है और अनेक दिशाओं में उसका संचरण होता है।

कूप के अनेक पर्याय

कुआं, कुवा, कूड़ा, बेरी, बेरा आदि शब्द मूलत: उस जलस्रोत के पर्याय हैं जिसको संस्कृत में कूप कहा जाता है। ये शब्द लगभग ढाई हजार सालों से भारतीय जनजीवन में व्यवहार में रहे हैं। ईसापूर्व संपादित भगवान् पाणिनि कृत अष्टाध्यायी पर पतंजलि के महाभाष्य में कूप शब्द आया है। लगभग इसी काल की चरकसंहिता में भी कूप शब्द आया है। इस काल तक जलस्रोत के रूप में वापी, कूप, तड़ाग, उत्स, सर और प्रस्रवण आदि समाज में ज्ञेय थे और आयुर्वेदविदों ने इनके जलों में आनूप, पर्वत अथवा जांगल भूमि आदि का विचार कर गुण-दोषों को जान लिया था।

कोश ग्रन्थों में इसके प्रयोग और पुरातनता के संकेत मिलते हैं। कूप में कु ईषत् आपो यत्र अर्थात् जहां पर जल रहता है। यही मत अन्यत्र भी है- स्वनाम2यातो जलाधार। लोक में कुया, पात्कुया आदि भी कहा जाता है। इसके अमरकोशादि शब्दकोशों में अनेक पर्याय मिलते हैं-

गुप्तकाल में हुए अमरसिंह के अनुसार- कूप, अंधु, प्रहि, उदपानम्। (अमरकोश 1/10/ 26)

मध्यकालीन जटाधर के बनाए कोश के अनुसार- अवट: और कोट्टार। (जटाधर)

वेदनिघण्टु के तीसरे अध्याय में कूप के तेरह पर्याय आए हैं जो इस जलस्रोत की लोकप्रियता का प्रमाण है और इसके लिए लोक के अलग-अलग इलाकों में व्यवहृत संज्ञाओं का सूचन है। यह पर्याय हैं- वज्र, काट:, खात:, अवत:, क्रिवि:, सूद:, उत्स:, कारोतरात्, कुशेष: और केवट:। (शब्द कल्पद्रुम. भाग द्वितीय, पृष्ठ 170)

कूप के लक्षण मध्यकालीन भावप्रकाश निघण्टु के इस श्लोक से स्पष्ट हैं-

भूमौ खातो अल्पविस्तारो गंभीरो मण्डलाकृति:।

बद्धो अबद्ध: स कूप: स्यादादंभ कौपमुच्यते।। (भावप्रकाश : वारिवर्ग, 48)

इसका आशय है कि भूमि पर कुछ विस्तार वाला खड्डा जो गहराई लिए हो और गोलाई वाला हो, जो चाहे बांधा गया हो या नहीं बांधा हुआ हो, वह कूप होता है और उसका पानी कौपजल कहा जाता है।

कूप के लिए भूमिस्थ जल की पहचान

मिट्टी की आर्द्रता, शिलाओं के रंग-रूप, पर्वत पर पर्वत, प्राप्त वनस्पति व उसके पगवन, प्रसारण और दीमक, सांप, गोधा, गिरगिट आदि प्राणियों की गतिविधियों के आधार पर पानी की भूमिगत स्थिति का आकलन किया जाता है। इस ज्ञान को दकार्गल या जलार्गल कहा जाता है। सारस्वत मुनि का इस पर विस्तृत शास्त्र था जिसे मनु, बलदेव आदि ने विकसित किया और इसी को छठवीं सदी में वराहमिहिर ने जनोपयोगी जानकर संहिताबद्ध किया। लगता है इस काल तक देशभर में कूप खनन बहुत बड़े पैमाने पर हो रहा था और जल विषयक ज्ञान की आवश्यकता थी।

इस ज्ञान को जानने वाले व्यक्ति सरवा कहे जाते हैं और वे ही बहुत पुराने काल से कूपादि के लिए भूमि को चिह्नित करते और उन पर श्रमिक कूप खनन करते। कूप से सदैव पीने योग्य पानी मिले, इसके लिए अनेक उपाय किए जाते थे और भाग्य पर बड़ा विश्वास किया जाता था। कूप की गहराई के लिए पुरुष और हाथ की लंबाई का प्रमाण ही काम में लिया जाता था। एक पुरुष का अधिकतम प्रमाण 120 अंगुल माना गया है। इस आधार पर किसी कूप की गहराई बताई जाती थी। सामान्यतया पेड़ों के आधार पर तीन पुरुष के बराबर गहराई पर पानी मिल जाता था- जलं खातेंभ पुरुषत्रये।